

## स्वामी प्रणवानन्द दर्शन-पुरस्कार

1. 1980 दर्शन-विभाग, जवल्पुर विश्वविद्यालय	जवल्पुर	1980
2. 1982 डॉ. अण्णयन्द भट्टाचार्य, चम्पौली	जवल्पुर	1982
3. 1983 डॉ. अर्जुन मिश्र, समरा	जवल्पुर	1983
4. 1984 डॉ. चंद प्रकाश वर्मा, दिल्ली	दिल्ली	1984
5. 1986 दर्शन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय	जोधपुर	1986
6. 1987 डॉ. जयदेव वेदालंकार हरिद्वार	मुरादाबाद	1987
7. 1988 डॉ. सागरमल जैन, रवालिपर	जोधपुर	1988
8. 1989 श्री दशदेव शान्ध, जयपुर	अगरा	1989
9. 1990 डॉ. रामलाल पाण्डेय, इलाहाबाद	वाराणसी	1990
10. 1991 डॉ. स्वामीरण पाण्डेय, वाराणसी	वर्ली	1991
11. 1992 डॉ. भालराम तिवार, जवल्पुर	राजपुर	1992
12. 1993 डॉ. उमेशचन्द्र दूब, वाराणसी	जवल्पुर (पटनाही)	1993
13. 1994 डॉ. एम. पी. भार्गव पुणे	राजपुर	1994
14. 1995 डॉ. शशिप्रभाकुमार, दिल्ली, लालाज	राजकोली	1995
15. 1996 डॉ. (क.) विमला, कर्णाटक वाराणसी	पुणे-	1996
16. 1996 डॉ. हृदयनारायण मिश्र,	( विशेष अधिेशन गुण्टूर	1996
17. 1996 डॉ. अण्णक जोहरा,	दिल्ली	1996
18. 1996 डॉ. डी. आर. भण्डारी,	जोधपुर	1996
19. 1997 डॉ. अण्णक जोहरा, दिल्ली,	वाराणसी	1997
20. 1998 डॉ. राधेयामपर द्विवेदी,	हरिद्वार	1998
21. 1999 डॉ. महेश भारती, गाजियाबाद	नोएडा	1999
22. 2000 डॉ. हृदय नारायण मिश्र ( ज्ञानपुर )	हजारीबाग	2000

महामन्त्री

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिये महामन्त्री डॉ. डी.आर. भण्डारी द्वारा प्रकाशित ।

28

## दार्शनिक - त्रैमासिक

वर्ष ४७ | जुलाई-सितम्बर २००१ | अंक ३

प्रधान सम्पादक:

प्रो. रेवतीरामण पाण्डेय

आचार्य, दर्शन

दर्शन एवं दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



कार्यकारी संपादक

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल

डॉ. अश्विकादत्त शर्मा

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

## श्रग्वेद की दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा एकदेववाद

डॉ. मुस्लीमनोहर पाठक

श्रग्वेद विश्व-साहित्य की सबसे प्राचीन रचना है। मानव-मस्तिष्क के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का सबसे प्राथम वर्णन श्रग्वेद में ही उपलब्ध होता है। डॉ. देवराज ने भी भारतीय दर्शन का आरम्भ वेदों से माना है।<sup>1</sup> डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है- 'किन्ती भी भारतीय विचारधारा की सही-सही व्याख्या के लिए श्रग्वेद के सूक्तों का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है।'<sup>2</sup> वस्तुतः मनुष्य ने सबसे इस पृथिवी पर अँधेरे खोलकर अपने आस-पास के वातावरण को देखा और जानना प्रारम्भ किया, तभी से उसे अपने ऊपर एक ऐसी शक्ति का ज्ञान होता रहा है, जो विभिन्न रूपों में उसने जीवन में साधक या ब्राह्मक की भूमिका निभाती रही है। इस प्रकार उक्त शक्ति को उसने अपने से अधिक समर्थ समझते हुए उसके साथ नगमलक होकर कृपाशला-शापन किया अथवा उससे सहायता मागने या उसके क्रोध की शान्ति-हेतु स्तुतियाँ की। इस प्रकार स्तोत्र, स्तुति तथा स्तुत्य की श्रद्धालु बन गई।

भारत जैसे प्रभूत प्राकृतिक सौन्दर्यों से परिपूर्ण देश में दर्शन का आरम्भ प्रकृति-काव्य के रूप में होना स्वाभाविक था। आर्यजन उषा-अरुण, दिवा-यात्रु-मेघ, अग्नि-जल, सभी को देवताओं का स्वरूप देकर उनकी पूजा करते थे। डॉ. वेणीमाधव बडुआ के अनुसार वैदिक युग में "दर्शन" के लिए "उत्सव" शब्द का प्रयोग होता था और दार्शनिकों के लिए "कवि" शब्द का।<sup>3</sup> इसलिए श्रेष्ठ दीर्घतामा तत्त्वज्ञानार्थ कवि से प्रार्थना करते हैं।<sup>4</sup> आदि पुरुष की तरह आदि विचार भी कब जन्म लेकर प्रथम बार इस जगत् में आया इसे किन्ती ने नहीं देखा। कौन इसे उस विद्वान् से पूछने गया जो जानता था।<sup>5</sup> श्रेष्ठ दीर्घतामा की ये जिज्ञासाएँ हमें दर्शन की ओर ले जाती हैं। डॉ. बडुआ ने भी दर्शन को मानव मस्तिष्क की संशयात्मिका या जिज्ञासात्मिका वृत्ति के रूप में आरम्भ की अपेक्षा से गहिरा एक शाश्वत शाश्वत भाग है, किन्तु ज्ञान की एक विशेष शाखा के रूप में या विचार की एक विशेष पद्धति के रूप में उन्होंने उसका आरम्भ दिखाया जाना भी स्वीकार किया है।<sup>6</sup> प्राथमिक मानव समाज में भी पूछ, इच्छा और चार्वाक्य की समस्याएँ तो रही ही होंगी। मृत्यु ने भी अराश्य की लोकोक्ता ध्यान आकृष्ट किया होगा। इन समस्या परिस्थितियों का निराकरण करने के लिए उसने अवरयमेव विचार किये होंगे।

भारत के सूर्योदय इतिहास में ऐसा कोई भी युग स्मृतिगत नहीं होता, जिसमें भारतीयों के मन में प्रकृति, परमेश्वर और जीवन-सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न न हुईं हों और इन पर उन्होंने विचार न किया हो। श्रग्वेद में ही हम श्रेष्ठियों को सृष्टि के विषय में जिज्ञासा करते देखते हैं- प्रथम भावविकार प्राप्ति को किसने देखा, जिस सात्वयव को निरवयव ने धारण किया था?<sup>7</sup> कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उत्पादन कारण से और किस निर्मित कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है?<sup>8</sup> इतना ही नहीं हम श्रग्वेद में श्रेष्ठियों को जीवन के अस्तित्व के विषय में भी कभी-कभी ऐसे गम्भीर और महत्वपूर्ण विचार करते हुए देखते हैं, जो आज इतने दार्शनिक विकास के बाद भी नये जैसे प्रतीत होते हैं। कालदर्शी श्रेष्ठियों ने अस्तित्व-रूप से विद्यमान जगत् के चम्पन के कारण को अपनी बुद्धि से हृदय में विचार कर सद्विलक्षण कारण में देह लिया।

इन सुस्पष्ट दार्शनिक विचार-विन्दुओं के अतिरिक्त वैदिक श्रेष्ठियों द्वारा बरुण देवता को समर्पित मन्त्रों में भी हमें कुछ ऐसे तथ्य उपलब्ध होते हैं, जो दार्शनिक पृष्ठभूमि से ओत-ओत हैं। श्रेष्ठि कहता है- हे भगवान् बरुण! वह मेरा जानकर किया हुआ पाप, प्रवृत्ति में कारण न था। वह दैव-गति ही थी। वह प्रसाद-कारिणी सुग ही थी। अन्यर्ध का हेतु क्रोध ही था। वह धृत का साधन अश्व था। मेरा अज्ञान था।<sup>9</sup> हे बरुण! आपके लिए की हुई मेरी यह स्तुति आपके हृदय में भरी-भरी प्रवेश करे। हमारे योग और क्षेम में उपद्रवों का शमन हो और हे देवो! सदा शान्ति से हमारी रक्षा करो। इन उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि श्रग्वेद के श्रेष्ठि जीवन की विविध समस्याओं से पूर्णतः अवगत थे तथा उनके निदानार्थ वे चिन्तित रहा करते थे।

ऊपर श्रग्वेद में इतलतः विकीर्ण जिन दार्शनिक तथ्यों की चर्चा की गई है, वे अकस्मात् श्रेष्ठियों की विचार-संयोग में नहीं आ गए, अपितु इसके पहले एक ऐसा भी स्वरूप है जिसके मूल में हमें धार्मिकता के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि धार्मिक विचारों ने ही अग्रे चलकर दार्शनिकता का रूप प्रश्न कर लिया। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भारत में कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसने अग्रे चलकर दर्शन का रूप न प्रश्न कर लिया हो, अथवा जिसका अपना कोई दर्शन न हो। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में- "धर्म-विषयक समस्याओं से दार्शनिक भावना को उत्तेजना मिलती है।"<sup>10</sup> क्रिस्टियन ने भारत में धर्म को दर्शन के रूप में उसी अर्थ में माना है। जिसमें धर्म का लक्षण यह हो कि वह सम्पूर्ण जीवन की प्रगति में सहायक होता है।<sup>11</sup> पाश्चात्य विचारक हेगल ने भी धर्म को दर्शन से सम्बद्ध माना है। उनके अनुसार जब भी दर्शन

धर्म को उद्घाटित करता है, वह स्वयं को उद्घाटित करता है तथा अपना उद्घाटन करते समय यह धर्म का उद्घाटन करता है।<sup>18</sup>

इसी प्रकार मूल वैदिक दर्शन भी धर्म से सम्पृक्त है। साधारणतः विभिन्न देववादी प्रवृत्तियों ने ही दर्शन का रूप धारण कर लिया। यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ मौलिक रूप से धर्म से ही सम्बद्ध हैं, तथापि दार्शनिक परिष्कार में भी इनका कर्म महत्त्व नहीं है।

श्री० हिरियत्रा के शब्दों में इनका मूल जो भी रहा हो, ये दर्शन के विद्यार्थी के लिए अत्यधिक महत्त्व रखती हैं, क्योंकि इनमें अधिकांश उत्तरकालीन भारतीय विचारों के अंकुर मिलते हैं।<sup>19</sup>

श्रग्वेद की देववादी प्रवृत्तियों में एकदेववाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह अग्नेयी के मोनोथीज्म (Monothicism) का हिन्दी अनुवाद है। यह ग्रीक भाषा के दो शब्दों-मोनो (Mono) तथा "थीयॉस" (Theos) के योग से बना है, जिनका अर्थ क्रमशः 'एक ही (Single) और 'देवता' (God) होता है।<sup>20</sup> यदि "सिंगल" शब्द पर विचार किया जाये तो इसका अर्थ शंका-रहित ही एक देवता में ही विश्वास करना। यह धर्म तथा दर्शन दोनों से जुड़ा हुआ है तथा इसके अनुसार ईश्वर को एक, पूर्ण निर्विकार या अपरिवर्तनशील (Immutable), जिना जगत् में अन्तर्भूत (Involved) वैयक्तिक तथा समस्त सृष्टि के द्वारा पूज्य माना गया है।<sup>21</sup> इस प्रकार एकदेववाद समस्त देवों की एकता के रूप में ऐसे देव की प्रतिष्ठा करता है, जो अपनी इच्छा से सब कुछ उत्पन्न करता तथा उस पर शासन करता है इसके अतिरिक्त यह अनेक देवों के अस्तित्व का निर्धारण भी करता है। लुहद्विग के अनुसार "मोनोथीज्म" एक ही देव को सर्वोच्च मानकर सबको इसकी अधीनता में स्वीकार करता है।<sup>22</sup>

डा० ए.सी. बोस ने एकदेववाद के लिए आठ विशेषताओं का श्रेणी प्रतिपादित किया है, जो इस प्रकार हैं- एकदेववादी देव एक ही पुरुष है। उसे पुरस्कार में ही होना चाहिए, सृष्टि से उसका सम्बन्ध पिता के रूप में होना चाहिए। वह न केवल पिता, अपितु पिता या आदिपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए। उसका निवास स्थान स्वर्ग में होना चाहिए। उसे सबका शासक होना चाहिए तथा सबका सम्राट् के रूप में होना चाहिए। किसी आधुनी शक्ति को उसका स्थाभाविक शत्रु होना चाहिए। अन्ततः सबका निर्देववाद रूप से सम्राट् होने के कारण सभी को उसकी इच्छा के बारे में जानकार उसी के अनुसार अपना जीवन-यापन करना चाहिए। अपनी इच्छा को मानव तक सम्प्रेषित करने के लिए वह अपने दूत पृथ्वी पर भेजता रहता है।<sup>23</sup>

जहाँ तक श्रग्वेद का सम्बन्ध है उसमें एकदेववाद के लिए बताई गई उपर्युक्त बातों में से एक-दो बातें ही मिल सकती हैं। वस्तुतः ये सारी विशेषताएँ

यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म एवं दर्शन को दृष्टि में रखकर निर्धारित की हुई प्रतीत होती हैं, क्योंकि श्रग्वेद का धर्म एवं दर्शन इन सबके प्राचीन धर्म के साथ ही साथ उन्नत विचारों से मण्डित भी है। उसमें देव-विषयक विचारों की कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची गई है। हर दंग के विचार भिन्न-भिन्न स्थलों पर दृष्टिगोचर होते रहते हैं। यहाँ तक कि जिन तत्वों को किसी विद्वान् ने एकदेववादी माना है, उन्हीं को दूसरों ने एकत्ववादी माना है। ईसे-श्रग्वेद के एक शंसद्ध मन्त्र, "एक सद् विद्या बहुधा यदनिन्" <sup>24</sup> को श्री० हिरियत्रा ने एकदेववाद का उदाहरण माना है, <sup>25</sup> जबकि इसे ही डॉ० राधाकृष्णन् ने अर्द्धतवाद के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। <sup>26</sup> यहाँ कुछ मन्त्रों पर विचार किया जा रहा है, जो भेरी दृष्टि में एकदेवतावादी विचारधारा को अपने अन्दर समाहित किये हुए हैं।

श्रग्वेद के द्वितीय मण्डल में विभिन्न देवताओं को अग्नि में ही अन्तर्भाव करने अग्नि को एकमात्र देव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। उसे ही इन्द्र, विष्णु ब्रह्मा, वरुण, मित्र, अर्यमा तथा अंश के रूप में स्वीकार गया है। <sup>27</sup> एक अन्य मन्त्र में अदिति को सुतोक्त कहा गया है। अदिति को ही अन्तर्दिश भी कहा गया है। उसे माता, पिता तथा पुत्र के रूप में भी निरूपित किया गया है। इसके अतिरिक्त उसे समस्त देवताओं तथा पञ्चजनों के रूप में भी माना गया है अन्ततः उसे ज्योति (जन्म) तथा ज्योतिव्य (जननपरम्परा) के रूप में भी स्वीकार किया गया है। <sup>28</sup> इस प्रकार अदिति में ही न केवल सारे देव, अपितु समग्र सृष्टि भी अन्तर्भूत है। देवताओं की इस एकीकरण परम्परा में विश्वकर्मा का भी स्थान है। यह श्रारम्भ में इन्द्र तथा सूर्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु आगे चलकर उसे न केवल एक स्वतन्त्र देव के रूप में ही, अपितु एकमात्र देव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसे दो सूक्त समर्पित किये गये हैं। <sup>29</sup> शाब्दिक रूप से ही विश्वकर्मा का अर्थ सबको बनाने वाला होता है। वह सर्वदृष्टा है। उसकी आँखें सब तरफ हैं, उसके मुख सब जगत् उसकी भुजाएँ तथा पैर सब तरफ हैं। वह सुतोक्त और पृथिवी लोक को अपनी विशाल भुजाओं तथा पंखों से उत्पन्न करता है। <sup>30</sup> इस प्रकार एक एकमात्र देव के रूप में प्रतिष्ठा है। एक अन्य मन्त्र में यह कहा गया है कि वह विश्वकर्मा हम सबका रक्षक एवं पिता है। एवं सबका भ्रष्टा एवं देवताओं को नाम प्रदान करने वाला है, वह एक ही तथा सभी विज्ञाता शान्त करने हेतु उसके पास जाते हैं। <sup>31</sup>

श्रग्वेद की एकेश्वरवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत शिष्यधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रजापति के साथ इसकी एकलपता भी प्रतिपादित की गई है। <sup>32</sup> वस्तुतः यह प्रवृत्ति की सर्वनामक शक्ति का पुरुषीकृत स्वरूप है। उसे प्राणिमात्र का आदितीय स्वामी तथा सुतोक्त एवं पृथिवी को धारण करने वाला बताया गया है। <sup>33</sup> आगे

चलकर उसे सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है- हे प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा देव इन समस्त उत्पन्न पदार्थों को व्यापण नहीं किया है।<sup>11</sup>

भगवद् का पुरुषसूक्त (10/90) अपनी दार्शनिक एवं याज्ञिक महत्ता के लिए विश्व-विश्रुत है। उसमें पुरुष को ही समस्त उत्पन्न हो चुके तथा भविष्य में उत्पन्न होने वाले पदार्थों के रूप में देखा गया है उसे अमरता अर्थात् देवों के स्वामी के रूप में भी स्वीकार किया गया है।<sup>12</sup> इस प्रकार पुरुष एकमात्र देव के रूप में निरूपित है। वह प्रकृति से अभिन्न है। वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। सम्भवतः पुरुष के इसी स्वरूप के कारण कुछ विद्वानों ने इसे सर्वेश्वरवाद का प्रतीक माना है।<sup>13</sup> ब्रह्मपरीलम्ब ने पुरुषसूक्त में एकरूपवादी सर्वेश्वरवाद (Monothestic Pantheism) का सिद्धान्त माना है।<sup>14</sup> सूक्त में पुरुष को एक देवता के रूप में प्रतिपादित करते हुए उसे सम्पूर्ण सृष्टि में अनुत्पन्न बताया गया है। इसीलिए यहाँ इसे एकरूपवादी प्रकृति के चरम निदर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह सूक्त हमें अन्य देवों या सृष्टियों की अपेक्षा एकरूपवाद या अद्वैतवाद के अधिक निकट ले जाता है।

प्रकृत एकरूपवादी प्रकृति हमें इन्द्र को समर्पित सूक्तों में भी उपलब्ध होती है। एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र अपनी शक्तियों के द्वारा नाना रूपों को धारण कर लेते हैं।<sup>15</sup> उन्हीं में समस्त देवता निहित हैं। कुछ सूक्तों में बृहस्पति को भी एकमात्र देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>16</sup> उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेदिक काल में भी आर्यों ने अपने बहुरूपवादी सिद्धान्तों को एकरूपवादी में परिणत का लिया था। इसी स्वरूप को मैकडॉनल ने बहुरूपवादी एकरूपवादी (पॉलीथीस्टिक मोनोथीज्म) की संज्ञा दी है।<sup>17</sup> म्योर ने अपनी पुस्तक में एमोपिकटेड के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है- आर्य धर्म का आरम्भिकतम रूप एकरूपवाद ही था जो बाद में अनेकरूपवादी बन गया।<sup>18</sup> बलुग्टः विभिन्न देववादी प्रवृत्तियों विकास का प्रतिफल नहीं है, बल्कि एक ही समय में भिन्न-भिन्न ऋषियों की पूजक-पूजक दृष्टि की परिचायक है। इन सिद्धान्तों में भेद, पूर्णता या परिपक्वता की मात्रा के आधार पर न होकर पद्धति के आधार पर है। सभी बाद, विचार की विभिन्न प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

वशिष्ठ श्राव्यापकः

संस्कृत श्राव्यापन केन्द्र,

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

### सन्दर्भ

- (1) डॉ० देवराज, न. कि एवं डॉ० निवारी, रामानन्द-भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० 13
- (2) डॉ० रामाशुक्लान्त, सर्वपल्ली-इन्द्रियन फिलॉसफी भाग-1 का हिन्दी अनुवाद, पृ० 59
- (3) डॉ० बहुरूप, वेणीसायब-पी बुद्धिस्टिक इन्द्रियन फिलॉसफी, पृ० 5, 6, जोहन्ड दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग पृ० 101 पर उद्धृता।
- (4) भगवद्, 1.164.6
- (5) बर्ही, 1.164.4
- (6) Philosophy as a doubling Process of the human mind is eternal. As a Structure of thought it has its beginnings.
- (7) भगवद् 2.12.5
- (8) बर्ही, 1.164.4
- (9) भगवद् 10.129.6
- (10) बर्ही, 10.129.4
- (11) भगवद् 7.86.6
- (12) भगवद् 7.86.8
- (13) डॉ० रामाशुक्लान्त सर्वपल्ली-इन्द्रियन फिलॉसफी भाग-1 का हिन्दी अनुवाद, पृ० 22
- (14) श्रितियारा एम. भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०-14
- (15) चटर्जी सतीशचन्द्र-द प्राक्कन्स ऑफ़, फिलॉसफी पृ०-30
- (16) श्रितियारा एम.-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ०-36
- (17) लुद्धियारा, शिवशेखर एम.-दी एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फिलॉसफी, बाल्युम 10, पृ०-68
- (18) बर्ही, पृ०-69
- (19) बर्ही, पृ०-72
- (20) बोस, ए.सी.-दी कॉल ऑफ़ दी वेदाय, पृ०-17-21
- (21) भगवद् 1.164.46
- (22) श्रितियारा एम.-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ०-38
- (23) डॉ० रामाशुक्लान्त, सर्वपल्ली-भारतीय दर्शन प्रथम भाग, पृ० 85
- (24) (क) भगवद् 2.1.3,  
(ख) बर्ही, 2.1.4
- (25) भगवद् 1.89.10
- (26) बर्ही, 10.81 तथा 82
- (27) बर्ही, 10.81.3
- (28) बर्ही, 10.82.3
- (29) ऐतिहासिक साहित्य, 5.5.1.2
- (30) भगवद् 10.121.1
- (31) बर्ही, 10.121.10
- (32) बर्ही, 10.90.2
- (33) (क) श्रितियारा एम.-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ०-38  
(ख) उपाध्याय, बलदेव-वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०-38
- (34) ब्रह्मपरीलम्ब, मोरिस - द फिलॉसफी ऑफ़ द वेद, पृ०-242
- (35) भगवद् 6.47.18
- (36) बर्ही 10.71 तथा 72
- (37) मैकडॉनल-वैदिक साहित्यशास्त्र, पृ०-16
- (38) म्योर-ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, बाल्युम 5, पृ०-412-420